

विपक्ष के पास है बड़ा जनाधार

वैभव सिंह

23 मई के चुनावी परिणाम से कम से कम तीन सबक सीखे जा सकते हैं। पहला, टेलीविजन संप्रेषण का सबसे प्रभावी माध्यम है और जिस दल का टेलीविजन पर नियन्त्रण होगा, उसी दल के नेता की बतौर शक्तिशाली नेता तेजी से सफल ब्रांडिंग होगी और उसी के जीतने की संभावना रहेगी। दूसरा, लोग अब अपनी समस्याओं के बारे में नहीं सुनना चाहते, बल्कि सीधे-सीधे किसी उम्मीद जगाने वाले चेहरे को ढूँढते हैं। समस्याओं के साथ तो उन्हें पहले ही जीने की आदत पड़ चुकी है। इंटरनेट-टीवी ने हर चीज को विजुअल बनाया है। ऐसे में पहले की तुलना में नेतृत्व के सवाल से कतराकर निकलना और अधिक मुश्किल हो गया है। बहुत विजुअल ढंग से लोग अपने नेता का चेहरा, व्यक्तित्व, हावभाव, जीवनशैली और वक्तूता को देखना चाहते हैं। तीसरा, विभिन्न प्रकार की स्थानीय और सांस्कृतिक अस्मिताओं के आधार पर हम भारतीय चुनाव प्रणाली व मतदाता-व्यवहार का विश्लेषण करते थे, अब एक 'विशाल हिन्दू पहचान' की राजनीति ने उन परम्परागत विश्लेषणों को सीधे चोट पहुंचाई है। चालीस साल से कम उम्र वाला एक बड़ा मतदाता वर्ग अब बहुत महत्वाकांक्षी स्वभाव का है। वह अपनी तरक्की की संभावनाएँ जातिवादी राजनीति में नहीं बल्कि आधुनिक सुविधाओं का जल्दी से जल्दी लाभ उठाने में तलाश रहा है। कस्बाई और महानगरीय दोनों स्थानों पर युवा जाति की प्रणाली के बाहर बेहतर जीवन सुविधाओं की खोज में है और शेयर मार्केट में 100 रुपये के लाभ के लिए भी वह उद्योगपतियों का समर्थन करने वाले दलों को जिता सकता है। इन तीन किस्म के सबक लेने के बाद अब हम इन नतीजों पर आगे चर्चा कर सकते हैं।

ये चुनाव दुनिया के सबसे खर्चीले चुनावों में से थे। अमेरिका भी अब अपने चुनावों में इतना पैसा खर्च नहीं करता जितना भारतीय खर्च करते हैं। इकोनामिक टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार पचास हजार करोड़ से अधिक धन इन चुनावों में खर्च हुआ और यह धन मतदाताओं को चिकन बिरयानी खिलाने के मामूली प्रलोभनों से लेकर हेलीकाप्टरों के किराए और मीडिया विज्ञापनों में निवेशित हुआ है। यह खर्च उस सरकारी धन से अलग है जो भारत में चुनाव व्यवस्था के ऊपर लगता है। चुनाव आयोग के आंकड़ों के अनुसार नब्बे करोड़ मतदाताओं वाले देश में चुनावों में लगभग 72 रुपये प्रति मतदाता सरकारी धन खर्च होता है। देश के 1952 में सम्पन्न प्रथम आम चुनावों में, जब लगभग 17 करोड़ मतदाता थे, तब यह मात्र 60 पैसे प्रति मतदाता हुआ करता था।

आज मतदाता काफी वक्त सोशल मीडिया के विभिन्न प्लेटफार्म पर बिताता है और इसीलिए फेसबुक, ट्विटर पर विभिन्न प्रकार के पेज बनाकर और करोड़ों के विज्ञापन देकर अलग से मतदाता के मन को प्रभावित किया जा रहा है। नए प्रचार माध्यम पोस्टर, हैंडबिल, समाचार पत्रों के स्थानीय विज्ञापन, लीफलेट, ब्रोशर, लाउडस्पीकर आदि के पुराने माध्यमों की तुलना में काफी अधिक महंगे हैं और इसी कारण लोकसभा में निर्दलीय उम्मीदवारों का जीतकर आना भी काफी कम हो चुका है। अब वे दहाई के आंकड़े को भी नहीं छू पाते हैं क्योंकि संगठित राजनीतिक दल ही बड़े पैमाने पर राजनीतिक चन्दे या काले धन के माध्यम से चुनाव लड़ सकते हैं। आजादी के पश्चात कम से कम आरंभिक दो चुनावों में 35 से अधिक निर्दलीय चुनाव जीत लेते थे। इस तर्क का अर्थ निर्दलीयों की राजनीतिक उम्मीदवारी का समर्थन करना नहीं बल्कि यह बताना है कि किस प्रकार किसी राजनीतिक दल की बड़ी, साधनसम्पन्न और लाखों कार्यकर्ताओं की मशीनरी के बगैर भारत में चुनाव जीतना



सत्ताविरोधी जनों के पास विकल्प यही है कि वे निडर होकर सशक्त विपक्ष को निर्मित करने में जुटे रहें। विपक्ष की राजनीति का संबंध हमेशा किसी महान नैतिकता या मिशन से नहीं होता, बल्कि उसका ठोस जनाधार होता है। चुनाव के बाद कई भाजपा विरोधी लोग भी मोदी और अमित शाह की प्रशंसा करते देखे गए हैं, पर उनका काम प्रशंसा करना नहीं बल्कि जनमानस पर धनशक्ति के बल पर कब्जा जमाने के बारे में लोगों को जागरूक करना होना चाहिए। एनडीए को भारी बहुमत के बावजूद अभी भी पचास फीसदी लोग गैर भाजपा व गैरएनडीए दलों को वोट करने वाले लोग हैं। विपक्ष की राजनीति आधे से अधिक लोगों के सत्ता के विरुद्ध होने की वास्तविकता से निकलती है। कांग्रेस समेत पूरे विपक्ष को वापसी करने में वक्त लगेगा और जब तक वह मीडिया की चुनौती का समाधान नहीं निकालता, उसका विकास और कठिन होगा। चुनावी प्रणाली में भाजपा को शिकस्त देने के लिए विपक्ष को राष्ट्रीय स्तर पर किसी बड़े कद के नेता को खड़ा करना होगा जिसकी बातें लोग सुन सकें। जिसकी भाषा, तेवर और विचारों में लोगों के भीतर की लड़ने और कुर्बानी देने की ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता हो। साथ ही राजनीति की नई भाषा को ईजाद करना होगा। वही युद्धोन्माद, फासीवाद विरोधी एकता, अल्पसंख्यक, सांप्रदायिक अभियान आदि शब्दावली का इस्तेमाल करने से नवउदारीकरण की संस्कृति में रह रहे लोगों की सत्ताविरोधी कल्पना को उत्तेजित नहीं किया जा सकता है। वामदलों के पास राजनीतिक विपक्ष पैदा करने की बेहतर समझ होती है, पर दुर्भाग्य से वामदलों का नेतृत्व बहुत बूढ़ी सोच का है। सीपीएम की पोलिट ब्यूरो में शायद ही कोई सदस्य 60 साल से कम उम्र का है। उनके अपने महासचिव सीताराम येचुरी 65 साल की उम्र से अधिक के हो रहे हैं, पर किसी नए तेजतर्रार युवा वर्ग को पार्टी की नीति निर्धारक समिति का हिस्सा नहीं बनाया जा रहा है।

असंभव हो चुका है और इसका लाभ पहले कांग्रेस ने और अब भाजपा ने सर्वाधिक उठाया है। निर्दलीय ही नहीं, किसी भी गांधीवादी, समाजवादी, साम्यवादी या जनोन्मुख विचारधारा की राजनीति करने वालों के लिए मौजूदा चुनाव प्रणाली बहुत प्रतिकूल हो चुकी है। निःस्वार्थी-समर्पित कार्यकर्ताओं और जनपक्षीय विचारधारा से आंदोलन तो किए जा सकते हैं, पर चुनाव नहीं जीते जा सकते हैं। मोदी और अमित शाह के भीतर चुनाव लड़ने और जीतने का उत्साह उनकी राजनीतिक इच्छाशक्ति का नहीं बल्कि उनके साथ खड़ी अरबों की पूंजी की देन है। पर संचार माध्यम यह प्रचारित करने में सफल हो जाते हैं कि वे राजनीति में मेहनत करने, लोगों को प्रेरित करने या अपना जीवन दांव पर लगाने जैसा कोई दुर्लभ ऐतिहासिक काम कर रहे हैं और जनता को उनका साथ देना चाहिए।

17वें लोकसभा चुनाव में खाली चुनावी बांड के बल पर भाजपा ने अरबों रुपये कमाए हैं और 95 फीसदी चुनावी बांड भाजपा के पक्ष में भुनाए गए हैं। भारत में जिस सरकारी बैंकिंग प्रणाली का इस्तेमाल आम गरीब जनता के हित में करना चाहिए, वही बैंकिंग प्रणाली अब गुमनाम चन्दे की संस्कृति को 'इलेक्टोरल बांड' के माध्यम से बढ़ावा देने का प्रयास कर रही है। स्टेट बैंक जैसे सरकारी बैंक से लाखों के बांड खरीदे जाते हैं और भाजपा को दिए गए हैं। बांड की प्रणाली 20 हजार रुपये से ऊपर का चंदा देने वाले का नाम-पता बताने के नियम कानून में नहीं आती है

और इसका पूरा लाभ भाजपा ने उठाया है। पर अचरज देखिए कि 17वें लोकसभा चुनाव को दिन-रात कवर करने वाली मीडिया ने कभी ठीक से राजनीतिक चन्दे, चुनावी बांड, कारपोरेट चन्दे और रिश्वत की पूरी व्यवस्था पर कोई बहस नहीं की क्योंकि भाजपा की विजय से उसे भी मालामाल होने का मौका मिल रहा था। इस प्रकार जब जनता राष्ट्रीय सुरक्षा, हिन्दूवाद, गोडसे, उज्ज्वला आदि से जुड़ी भावनाओं में बह रही थी तब गुमनाम स्रोतों से चन्दे की व्यवस्था को मजबूत कर चुकी सत्ताधारी पार्टी और उसके सहयोगी मीडिया संगठन अरबों रुपये कमा रहे थे। इस धन ने सत्ताधारी दल के नैरेटिव, धार्मिक आस्था, नारों, नेतृत्व और देशभक्ति को आम जनों तक पहुंचाने का पूरा चाकचौबंद इंतजाम कर रखा था। जिसे हम लोकतंत्र का मूड कहते हैं, वह वास्तव में बहुत सारे आक्रामक विज्ञापनों से निर्मित होता है और बनता-बिगड़ता है। राजनीतिक दलों का दायरे में 'पोल स्ट्रेटजी' या 'डिजिटल वार' जैसे शब्द इसीलिए चलन में हैं। जनता जैसे शब्द का भले बहुत प्रयोग होता हो, पर वह अंततः मिथ है क्योंकि कार्यकर्ता और चुनावी मैनेजमेंट सबसे बड़ी शक्ति है जिससे 'स्वतंत्र जनता' के विचार को ध्वस्त कर दिया जाता है।

चुनाव के इस आर्थिक पक्ष के अलावा यह चुनाव विपक्ष के सामूहिक बिखराव के लिए भी याद रखा जाएगा। कांग्रेस कम से कम चार बड़े राज्यों मप्र, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र जहाँ उसका भाजपा से सीधा मुकाबला था, अपनी राजनीतिक

शक्ति का गलत पूर्वानुमान लगा रही थी। चुनाव से पूर्व प्रधानमंत्री पद का सशक्त उम्मीदवार घोषित न करना उसकी विफलता का कारण बना। प्रायः गांव-कस्बे के लोग जितने चतुर होते हैं, उतने ही मासूम भी होते हैं। जमीनी राजनीति का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि इन चुनावों में लोग स्वयं को किसी राजनीतिक दल को हराने या जिताने के स्थान पर प्रधानमंत्री चुनने की

जिम्मेदारी से घिरा हुआ महसूस करने लगे थे। उन्हें स्थानीय, ग्रामीण या कस्बाई मुद्दों पर सोचने के स्थान पर राष्ट्रीय मुद्दे पर सोचने के लिए सफलतापूर्वक प्रेरित किया गया। इसीलिए जिस महाराष्ट्र में सूखे की भयंकर हालत है, या बुंदेलखंड में लोग पानी के लिए तरस रहे हैं, या झारखंड में जंगल-जमीन की लूट है वहाँ भी लोगों ने टीवी-सोशल मीडिया के कारण राष्ट्रीय मुद्दों जैसे बालाकोट, पाकिस्तान, आतंकवाद आदि पर 'रिस्पॉन्ड' करना आरम्भ कर दिया। अपने क्षेत्र के सांसद से बुरी तरह चिढ़े बैठे लोग फिर से उसे वोट कर आए क्योंकि उन्हें अपनी इलाकाई मुसीबतों से ज्यादा राष्ट्रीय संकट अहम लगने लगे। पहले भी लोग प्रधानमंत्री का चुनाव करने के लिए राष्ट्रीय चिंताओं से मतदान करते थे। पर बड़ा फर्क यह आया है कि पहले जहाँ राज्यस्तरीय राजनीति का भी उनके मतदान-व्यवहार पर असर था, वह असर घिसते-घिसते लगभग समाप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त नागरिक समाज के विभिन्न तबकों में संघ की पकड़ मजबूत हो चुकी है और उसने हिंदुत्व की इकोलाजी को तैयार कर हर विरोधी विचारधारा को कमजोर कर दिया है। सदियों से चले आ रहे रामलीला, दीपावली, होली मिलन, कुंभ स्नान, गंगा आरती जैसे जो सामान्य धार्मिक आयोजन थे, उन सभी में राजनीतिक हिंदुत्व ने सेंध लगा दी है। इलाहाबाद में कुंभ जैसे सदियों पुराने पर्व का इस प्रकार से व्यापक राजनीतिकरण इसी प्रक्रिया का हिस्सा है। लिबरल और धर्मनिरपेक्ष वर्ग, जो पहले विभिन्न नीतिगत, शैक्षणिक और मीडिया संस्थानों के माध्यम से मुख्यधारा में था, वह अब कोने में धकेल दिया गया है।

चुनाव के बाद जिस दिन कोई पार्टी अपने मंत्रिमंडल समेत कुर्सी पर बैठ जाती है, उसी दिन से विपक्ष का काम आरम्भ हो जाता है। भारत के 'फुर्स्ट पास्ट द पोस्ट वोटिंग' प्रणाली में सर्वाधिक वोट प्राप्त करने वाले प्रत्याशी को जीता हुआ घोषित किया जाता है, पर उसके खिलाफ भी लाखों लोग मतदान करते हैं। विपक्ष की पूरी राजनीति इन्हीं लाखों लोगों की जनभावनाओं को निरंतर व्यक्त करने के दायित्व से निकलती है। आशा की जा सकती है कि सत्ता पर भले भाजपा का नियन्त्रण रहे, पर भारत के लोकतंत्र को लगातार हलचल, संवाद और प्रतिरोध से भरा बनाए रखने के लिए विपक्ष संगठित होकर लड़ना रहेगा। यह सरकार भी अन्य सरकारों की तरह आगामी कुछ महीनों में भ्रष्टाचार करने तथा गलत नीतियों पर चलने के लिए अभिशप्त है, और विपक्ष को इन्हीं मुद्दों पर विरोध के लिए लोगों को तैयार करना होगा।

मोदी की हवा में काले धन की आंधी



स्वयं चुनाव आयोग के आंकड़ों के अनुसार 2014 लोकसभा चुनाव के बारह सौ करोड़ के मुकाबले 2019 चुनाव में पैंतीस सौ करोड़ का काला धन पकड़ा गया है। अनुमान है कि यह बरामद राशि कुल चुनावी लागत का बमुरिक्कल एक फीसद ही रही होगी। इसके अतिरिक्त जो तीस हजार करोड़ कॉर्पोरेट धन राजनीतिक दलों को बतौर चंदा पहुंचाया गया वह अलग। इस चंदे का भी 95 फीसद अकेले भाजपा की झोली में आया। यानी मोदी की राष्ट्रवादी और गरीबपरवर वाली हवा बनाने में कॉर्पोरेट और काले धन की आंधी की बड़ी भूमिका रही।